INTERNATIONAL JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY EDUCATIONAL RESEARCH
ISSN:2277-7881; IMPACT FACTOR :6.514(2020); IC VALUE:5.16; ISI VALUE:2.286
Peer Reviewed and Refereed Journal: VOLUME:10, ISSUE:1(5), January :2021
Online Copy Available: www.ijmer.in

वैदिक चिन्तन की समन्वयात्मक दृष्टि

भारद्वाज बर्गाए
शोधच्छात्र
दयानन्द-वैदिक-अध्ययन-पीठ
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ

भूमिका –

भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वप्राचीन एवं सर्वश्रेष्ठ संस्कृति है। भारतीय संस्कृति को प्रफुल्लित एवं पल्लवित करने में हमारे ऋषियों-मुनियों का महद् योगदान रहा है। इन्होनें अपने ज्ञान-तप-यज्ञादि जैसी अलौकिक क्रियायों द्वारा न केवल भारतभूमि को अलंकृत किया अपितु ये सम्पूर्ण विश्व को अपने ज्ञानरूपी चक्षु द्वारा प्रकाशित कर गये। यही कारण है कि आज सम्पूर्ण विश्व में भारतीय संस्कृति का किसी न किसी रूप में देखा जाता है। इसका मूल कारण हमारे ऋषि भी हैं जिन्होनें अपने ज्ञानरूपी चक्षु के द्वारा वेद-आरण्यक-ब्राह्मण-उपनिषद जैसे ग्रन्थों की रचना करके हमें सद्मार्ग पर चलने तथा तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने का अमूल्य अवसर दिया।

वैदिक साहित्य के सर्वप्रथम ग्रन्थ "वेद" ही माने जाते हैं। भारतीय संस्कृति के इतिहास में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व गौरवपूर्ण स्थान है। संस्कृत का प्रादुर्भाव प्रायः वैदिक काल से प्रारम्भ हुआ। विद् धातु 'घञ्' प्रत्यय से "वेद" शब्द निष्पन्न होता है, जिसका मुख्य अर्थ यथार्थ ज्ञान है। "वेद" शब्द का अर्थ मुख्यतया चार अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यथा – विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम्, विदलृ लाभे, विद् विचारणे। यथा यह सुविदित है कि वेद समस्त विषयों का सागर है। अतः वेद में प्रतिपादित कुछ व्यष्टि-समष्टि विषयक वैदिक चिन्तन प्रस्तुत किये जा रहे हैं -

INTERNATIONAL JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY EDUCATIONAL RESEARCH
ISSN:2277-7881; IMPACT FACTOR :6.514(2020); IC VALUE:5.16; ISI VALUE:2.286
Peer Reviewed and Refereed Journal: VOLUME:10, ISSUE:1(5), January :2021
Online Copy Available: www.ijmer.in

वैदिक चिन्तन –

संस्कृत वाङ्मय का भारतीय समाज एवं राष्ट्र से ऐसा अविनाभाव सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य मात्र को पूर्णता प्रदान करना सकल वैदिक चिन्तन का मूल है। समाज समष्टि है और मनुष्य व्यष्टि है। वैदिक ऋषियों ने इस समष्टि तथा व्यष्टि के उत्कर्ष हेतु अनेक सूत्र प्रदान किये।

व्यक्तित्व की श्रेष्ठता ही सर्वाधिक अभिलषित है। क्योंकि श्रेष्ठता को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का ही सब लोग अनुसरण करते हैं –

यः श्रेष्ठतामश्नुते तस्य वाचं प्रोदितामनु प्रवदन्ति।[1]

श्रेष्ठता का अनुसरण इसलिए अभीप्सित है कि उससे श्रेष्ठ आचार ही सङ्क्रान्त होगा। वैदिक ऋषियों के चिन्तन का यह सर्वाधिक ध्यातव्य बिन्दु है कि उन्होंने संगठन अथवा समूह के उत्कर्ष पर विशेष बल दिया। सामूहिक प्रार्थनाएँ भी इसी आधारभूमि को पुष्ट करती हैं।

ओउम् सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

हम दोनों साथ-साथ रक्षा करें। एक साथ पराक्रमपूर्ण कार्य करें। हमारा अध्ययन तेजस्वी हों और हम परस्पर विद्वेष न करें।

यह प्रार्थना अत्यन्त प्रचलित है परन्तु अर्थ-गाम्भीर्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। एक वर्ग यदि ज्ञान-सम्पन्न हो जायेगा और दूसरा वर्ग उस प्रकार के प्रज्ञा परिपाक से रहित हो जायेगा तो दोनों के मध्य बहुत बड़ी असमानता हो जायेगी जिससे समाज में विद्वेष आदि अनिष्ट का प्रसार होगा जो कि स्वस्थ समाज के निर्माण में बाधक होगा।

वैदिक काल में एक ही परिवार के भिन्न-भिन्न सदस्य भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने पर भी परस्पर प्रेम से रहते थे। व्यवसाय के आधार पर उच्च अथवा नीच का भाव व्याप्त नहीं था। एक मन्त्र में ऋषि कहते हैं –

INTERNATIONAL JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY EDUCATIONAL RESEARCH
ISSN:2277-7881; IMPACT FACTOR :6.514(2020); IC VALUE:5.16; ISI VALUE:2.286
Peer Reviewed and Refereed Journal: VOLUME:10, ISSUE:1(5), January :2021
Online Copy Available: www.ijmer.in

कारुरहं ततो भिषगपलप्रक्षिणी नाना।

नाना धियो वसूयवोऽनुजा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव।।[2]

अर्थात् मैं बढ़ई हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं। मेरी माता चक्की से अनाज पीसती है। हम नाना व्यवसाय करते हैं।

यह उदाहरण अनेकता में समानता की स्थापना करता है। परिश्रमसाध्य कर्म तथा ज्ञानाधारित आजीविका के साधनों में उच्च अथवा नीच का भाव न होना वस्तुतः अपेक्षित ही है। इसी समानता को पृथिवी सूक्त में पृथक् शैली में व्याख्यायित किया गया है।

पृथिवी पर बसे हुए अनेक प्रकार के जनों की सत्ता ऋषि स्वीकार करता है। यह अनेकता मातृभूमि को शक्ति प्रदान करती है और उसके रूप की समृद्धि करती है। अपने–अपने प्रदेशों के अनुसार प्रजाजन की अनेक भाषायें हैं और वे नाना धर्मों को मानने वाले भी हैं –

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं

नानाधर्माणं पृथिवीं यथौकसम्।[3]

उनमें जो विभिन्नता की सामग्री है उसे मातृभूमि सहर्ष स्वीकार करती है। विभिन्न होते हुए भी उन सबमें एक ही भावना अन्वित है कि वे सब पृथिवी के पुत्र हैं।

वैदिक ऋषि जिस समानता अथवा सहचरण की स्पृहा करते हैं वह प्रायः अन्तः साम्य के आधायक कारक हैं। जब ऋग्वेद कहता है – **उद्बुध्यं समनसः सखायः**[4] सभी समानमना होकर जागृत हों। सभी का जागरण तो ऋषि को अभीष्ट है परन्तु वह जागरण समानमना भावपूर्वक हो, यह अनिवार्य बिन्दु है। समनसः विशेषण बाह्य घटकों के आधार पर नहीं अपितु मन के आधार पर समानता का उद्घोष करता है। स्वस्थ मानसिक बलसम्पन्न नागरिकों से जिस समाज का निर्माण होगा वह वस्तुतः उत्कृष्ट एवं स्वस्थ ही होगा। जैसा कारण होता है कार्य भी वैसा ही होगा। यद्यपि **कारणगुणाः हि**

INTERNATIONAL JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY EDUCATIONAL RESEARCH
ISSN:2277-7881; IMPACT FACTOR :6.514(2020); IC VALUE:5.16; ISI VALUE:2.286
Peer Reviewed and Refereed Journal: VOLUME:10, ISSUE:1(5), January :2021
Online Copy Available: www.ijmer.in

कार्यगुणानारभन्ते, यह भारतीय दर्शन का प्रातिस्विक सिद्धान्त है परन्तु यह वैदिक सूक्तों में दर्शन से भिन्न परिप्रेक्ष्य में प्राप्त होता है।

वैदिक ऋषि अनेक विधेय एवं निषेधों के द्वारा समाज की संरचना का संज्ञान लेते हैं। मानवीय विकारों को दूर करने में मनुष्य को सदा उद्यत रहना चाहिए –

उलूकयातं शुशुलूकायतं जहि श्वायातुमुत कोकयातुम्।

सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषमेव प्र मृण रथइन्द्र।।[5]

मनुष्य में यदि गरुड़ के समान मद, गृध्र के समान लोभ, लोक के समान काम, कुत्ते के समान मत्सर, उलूक के समान मोह, वृक्र के समान क्रोध है तो उसे मार भगाईये। वस्तुतः इन विकारों से ही मनुष्य अधः पतन की ओर प्रवृत्त होता है। अतः वैदिक ऋषि मनुष्य को व्यतिरेक-दृष्ट्या इस प्रकार की निषेधात्मक प्रवृत्तियों से सावधान करता है।

ऋग्वेद में स्वस्थ समाज के निर्माणार्थ सात मर्यादाओं का उल्लेख किया है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं –

सप्तमर्यादाः कवयस्तितिक्षुः।[6]

इस मन्त्र में हिंसा, स्तेय, चौर्य, व्यभिचार, मद्यपान, द्यूत तथा अनृतभाषण इन पापों को करने वाले का सहयोग – ये सात मर्यादायें हैं। इनका निषेध किया गया है।

वैदिक दृष्टि एक नूतन पक्ष अनावृत करती है। मनुष्य का लक्ष्य आरोहण, आक्रमण (सर्वतः गतिशीलता) एवं उद्यान (ऊर्ध्वगमन) है –

आरोहणमाक्रमणं जोवतोऽयनम्।[7]

ऊपर चढ़ना और सर्वथा गतिशील रहना ही जीवन का लक्ष्य है।

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्।[8]

हे मनुष्य, तेरा लक्ष्य उन्नति है न कि अवनति।

INTERNATIONAL JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY EDUCATIONAL RESEARCH
ISSN:2277-7881; IMPACT FACTOR :6.514(2020); IC VALUE:5.16; ISI VALUE:2.286
Peer Reviewed and Refereed Journal: VOLUME:10, ISSUE:1(5), January :2021
Online Copy Available: www.ijmer.in

वस्तुतः सृष्टि के समस्त प्राणियों में केवल मनुष्य को ही ऊर्ध्वगमन का सौभाग्य सुलभ हुआ। वेद में सतत उत्कर्ष को मुखरित किया गया है कि हम उत् से उत्तर और फिर उत्तर से उत्तम की ओर अग्रसर हों –

उद्वयं तमसस्परि स्व पश्यन्त उत्तरम्।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।।[9]

हम अन्धकार से परे प्रकाश को देखते हुए क्रमशः उत् से उत्तर और फिर उत्तर से उत्तम ज्योति सूर्य तक पहुँचें।

यह विशेष रूपेण ध्यातव्य है कि वह आरोहण केवल भौतिक अथवा यान्त्रिक नहीं है, अपितु तम से प्रकाश की ओर, पृथिवी से अन्तरिक्ष की ओर तथा उससे भी ऊपर उत्तम ज्योति पुञ्ज की ओर अग्रसर होने की आकाङ्क्षा की गई है।

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह। राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह।[10]

हे मनुष्य, तू आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त कर। भौतिक उत्कर्ष भी प्राप्त कर। तोज को भी और आर्थिक समृद्धि को भी प्राप्त कर –

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।

आप्नुहिश्रेयांसमतिसंक्राम।।[11]

तू पवित्र है, प्रकाशमान् है, आनन्द है, तेजस्वी है, तू कल्याण को प्राप्त कर और उससे भी आगे बढ़।

वैदिक दर्शन समन्वय का दर्शन है। वह देह तथा देही, अभ्युदय तथा निश्रेयस् कर्म तथा ज्ञान, भोग तथा त्याग सभी में समन्वय की स्थापना करता है। साधन की पवित्रता तथा शुचिता ही अभिष्ट साध्य का प्रापण करवाती है।

अश्मा भवतु नस्तनूः[12], **इयं ते यज्ञिया तनूः**[13] आदि अनेक उद्घोष शरीर के स्वास्थ तथा पवित्रता की प्रार्थना करते हैं। केवल शरीर ही नहीं, अपितु मन, बुद्धि एवं प्राण इन

INTERNATIONAL JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY EDUCATIONAL RESEARCH
ISSN:2277-7881; IMPACT FACTOR :6.514(2020); IC VALUE:5.16; ISI VALUE:2.286
Peer Reviewed and Refereed Journal: VOLUME:10, ISSUE:1(5), January :2021
Online Copy Available: www.ijmer.in

सबका स्वस्थ होना सर्वथा अपेक्षित है। **तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**[14] यह सम्पूर्ण सूक्त मन के शिवसङ्कल्पसाधकत्व की प्रतिष्ठा करता है।

मन की पवित्रता का पुनः पुनः आह्वान करना उसको पाप भावनाओं से बचाये रखना, अत्यधिक अपेक्षित है। मन से नकारात्मक शक्तियों का निष्कासन करना सभी के अभीष्ट है –

परो पेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परे हि न त्वा कामये वृक्षां वनानि। सं चर गृहेषु गोषु मे मनः।।[15]

मन को पापभावना से दूर करना अर्थात् समस्त निषिद्ध भावनाओं से मन की रक्षा करना यह वैदिक प्रार्थना व्यष्टि के माध्यम से समष्टि को साधने का उपक्रम है। क्योंकि अथर्ववेद का ऋषि अन्दर तथा बाह्य के समन्वय को उत्कर्ष का मूल मानता है।

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्।[16]

जो तेरे अन्दर हो वही बाह्य हो और जो बाहर हो वही अन्दर हो। यह जीवन-सूत्र है जो विशेष रूप से समाज के उत्थान का मार्ग प्रशस्त करता है।

वैदिक ऋषि इस तथ्य से भी सुपरिचित हैं कि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना सुकर नहीं है यह परिश्रम तथा प्रयाससाध्य है, अतः उसकी अनवरत प्रार्थनायें इस प्रसङ्ग में प्राप्त होती हैं –

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाऽतितृष्णां।

बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः।।[17]

मेरे चक्षु, हृदय अथवा मन की जो भी न्यूनता है, उसे ज्ञानस्वरूप परमात्मा पूरा करें। ब्रह्माण्ड के अधिपति हमारा कल्याण करें।

INTERNATIONAL JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY EDUCATIONAL RESEARCH
ISSN:2277-7881; IMPACT FACTOR :6.514(2020); IC VALUE:5.16; ISI VALUE:2.286
Peer Reviewed and Refereed Journal: VOLUME:10, ISSUE:1(5), January :2021
Online Copy Available: www.ijmer.in

स्वस्थ शरीर, दृढ़ मन, प्रखर प्रज्ञा और सशक्त प्राण – इन सबका यथोचित समन्वय ही उत्कृष्ट जीवन है। वैदिक प्रार्थनाओं में व्यष्टि के माध्यम से समष्टि का भी उत्कर्ष अपेक्षित है।

जब शरीर स्वस्थ हो, संकल्प शिव हो और मति शुभ हो तो वह जीवन ही प्रशस्य हो सकता है। ऐसा श्लाघ्य जीवन पाकर व्यक्ति उदात्तावस्था में सूर्य के समान होने की प्रार्थना करता हुआ कहता है –

अग्ने वर्चस्विन् वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि। वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम्।।[18]

हे अग्नि, जैसे तू देवों में वर्चस्वी है, वैसे ही मैं मनुष्यों में वर्चस्वी बनूँ। यह वस्तुतः देवों का अनुकरण करते हुए जीवन में उत्कृष्टता की, श्रेष्ठता की अभीप्सा है। ऐसा प्रशस्य जीवन प्रकृति के शाश्वत नियमों का कभी उल्लंघन नहीं करता, अपितु व्यष्टि के साथ समष्टि, अन्तः प्रकृति के साथ बाह्य-प्रकृति और पिण्ड के साथ ब्रह्माण्ड का सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास करता है।

वैदिक दृष्टि इन्द्रियासक्ति मात्र का निषेध करती है। मात्र मानव जन्म लेकर देह और इन्द्रियों के भागों में लिप्त रहने वाला जन पशु (पश्यति इति पशुः) संज्ञा का भागी होता है, परन्तु वेद का आह्वान है कि स्वयं मनु बनो और दैवी सन्तति को जन्म दो-

मनुर्भवा जनया दैव्यं जनम्।[19]

हे मानव, तू मननशील बन और दिव्य सन्ततिओं को जन्म दे।

कर्म और सफलता का अविच्छिन्न सम्बन्ध प्रतिपादितकरते हुए वैदिक ऋषि कर्मयोग का शङ्खनाद करता है –

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।।[20]

कर्म मेरे दायें हाथ में हैं और जय मेरे बायें हाथ में।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।[21]

INTERNATIONAL JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY EDUCATIONAL RESEARCH
ISSN:2277-7881; IMPACT FACTOR :6.514(2020); IC VALUE:5.16; ISI VALUE:2.286
Peer Reviewed and Refereed Journal: VOLUME:10, ISSUE:1(5), January :2021
Online Copy Available: www.ijmer.in

इस लोक में कर्म करते हुए मनुष्य सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करें।

वैदिक ऋषि मानसिक अवसाद का सर्वथा निषेध करता है। यदि मन स्वस्थ है तो मोद, समोद तथा आनन्दमय जीवन सर्वसुलभ है।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।

कामस्य यत्राप्ताः कामाः तत्र माममृतं कृधि।।[22]

जहाँ आनन्द, मोद, प्रमोद और उल्लास रहते हैं, जहाँ सबकी सब कामनायें तृप्त हो जाती हैं, उस अमृत स्थिति में मुझे सदा रखिये।

श्रेष्ठ भावनाओं वाले व्यक्ति को वेद परस्पर सामनस्य, सौहार्द और संज्ञान जैसी भद्र भावनाओं का सन्देश देता है जिससे व्यक्तियों के समुदाय – परिवार, समाज और विश्व, स्नेह एवं सौहार्द से सुशोभित हो जायें तथा विश्वबन्धुत्व का भाव सुवासित हो-

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।[23]

हे मनुष्यों, मैं तुम्हें सहृदयता सामनस्य और अविद्वेष का सन्देश देता हूँ। तुम सब इस भाँति प्रेम रखो जैसे गाय अपने नवजात वत्स के प्रति रखती है।

उपसंहार –

व्यक्ति एक इकाई है और समाज संगठन है। व्यक्ति के सामर्थ्य की कुछ सीमाएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के लिए आवश्यक सभी पदार्थों को तैयार नहीं कर सकता। समाज समष्टि है। समाज व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करता है, समन्वय स्थापित करता है और दिशा निर्देश भी करता है। समाज के समन्वित विकास के लिए आवश्यक है कि वह सभी दृष्टियों से समुन्नत हो। समाज के सभी पक्षों का उत्कर्ष हो। इस दृष्टि से समाज को सुखी बनाने के लिए उसका धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और चारित्रिक सभी पक्षों का उन्नयन करना होगा।

INTERNATIONAL JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY EDUCATIONAL RESEARCH
ISSN:2277-7881; IMPACT FACTOR :6.514(2020); IC VALUE:5.16; ISI VALUE:2.286
Peer Reviewed and Refereed Journal: VOLUME:10, ISSUE:1(5), January :2021
Online Copy Available: www.ijmer.in

मानव जीवन के प्रति वैदिकी दृष्टि का वैशिष्ट्य यह है कि उसमें व्यष्टि भी समष्टि जीवन के भद्रभाव से समन्वित है, मर्त्य जीव भी अमृतत्व उपलब्धि के योग्य है। अभ्युदय भी अध्यात्म से अनुप्राणित है। व्यावहारिकता भी आदर्शोन्मुख है। मानव-जीवन ही एक ऐसा भव्य बिन्दू है जिसमें वामन से विराट् पर्यन्त, सान्त से अनन्त पर्यन्त, पिण्ड से ब्रह्माण्ड पर्यन्त एवं परिच्छिन्न से भूमापर्यन्त ऊर्ध्वगमन सम्भव है। इस प्रक्रिया को आत्मसात् करके ही यह घोषणा की गई –

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।[24]

---

[1] ऐतरेय ब्राह्मण, 2.15
[2] ऋग्वेद – 9.11
[3] अथर्ववेद -12.1.45
[4] ऋग्वेद – 10.101.1
[5] वही – 7.104.22
[6] वही – 10.5.6
[7] अथर्ववेद – 5.30.7
[8] वही – 8.1.6
[9] यजुर्वेद – 20.21
[10] अथर्ववेद – 13.1.3
[11] वही – 2.11.5
[12] यजुर्वेद – 29.49
[13] वही – 4.13
[14] वही – 34.1
[15] अथर्ववेद – 6.45.1
[16] वही – 2.30.4
[17] यजुर्वेद – 36.2
[18] वही – 8.38
[19] ऋग्वेद – 10.53.6
[20] अथर्ववेद – 19.15.6
[21] यजुर्वेद – 40.2
[22] ऋग्वेद – 9.113.11
[23] अथर्ववेद – 3.30.1
[24] यजुर्वेद – 40.16